वैदिक भक्तितत्त्व एवं श्रीमद्भगवद्गीता

प्रवीण कुमार*

भारतभूमि भक्तिरस के द्वारा स्निग्धधारा से सिक्त और आप्यायित है। भारतभूमि पर भक्ति का उद्गम कब और कैसे हुआ, कब से भक्तिरस का प्रवाह इस देश में हो रहा है यह कहना सम्भव नहीं है। इस विषय पर भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों का मतैक्य नहीं हैं। वैदिक-वाङ्मय के अवलोकन से यह स्फुटित होता है, कि वेद केवल कर्मप्रचारक ही नहीं, अपितु भक्ति के उद्भूतिस्थान भी हैं। यह सत्य है, कि संहिता-ब्राह्मणग्रन्थों में अनुरक्तिसूचक भक्तिशब्द का असद्भाव है, परन्तु भक्तिविषय पर्याप्तरूप से प्राप्त होता है। यह कल्पना करना कि वैदिककाल में भक्ति का उद्भव और विकास नहीं था यह अनुचित है। मन्त्रों में देवताओं की स्तुति अत्यधिक मार्मिकरूप से की गई है। स्तुतियों के दर्शन के द्वारा स्तोताओं के हृदय में अनुराग का अभाव था यह मत उपहासास्पद प्रतीत होता है। हृदय में भक्ति के अभाव में इस प्रकार के कोमलभावों और स्तुति का उद्गम सम्भव ही नहीं है। शुष्क नीरस हृदय में एतादृशी कोमलता और भावुकता सम्भव नहीं। देवताओं के स्तवन-काल में स्तोता ऋषियों के साथ माता, पिता, बन्धु इत्यधिक नानाप्रकार के सम्बन्धों को स्थापित करते हैं। अत: यह स्पष्ट होता है, कि स्तोताओं के हृदय में देवताओं के प्रति सर्वतोभावेन प्रेम और अनुराग है। यथा-

त्वां वर्धन्ति क्षितयः पृथिव्यां त्वां राय उभयासो जनानाम्।
त्वां त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्।।[1]

जिस प्रकार से इस मन्त्र में जो ऋषि अग्निदेवता को मातृ-पितृ इत्यादि रूपेण वर्णित करता है तो उसके हृदय में भक्ति-भावना अवश्य ही है।

भक्ति-भावना वरुणसूक्त में सर्वाधिक उपलब्ध है। वैदिक-देवताओं में वरुण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह तो सर्वत्र देखता है (विश्वतश्चक्षुः)। वह धृतव्रत, सुक्रतु

---

* सहायकाचार्य, वेद-विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, श्री रणवीर परिसर जम्मू।

1. ऋग्वेद 6।1।5

और सम्राट है, सर्वज्ञ है। स्तोताओं के मत में वरुण करुणास्पदभूत, अपराधियों को दण्ड देने वाला, सत्य का नियामक और निर्माता है। स्तोता ऋषि अपराधक्षमा हेतु और मङ्गल प्रार्थना करते हैं-

य आपिर्नित्यं वरुणः प्रियः सन् त्वामाङ्गासि कृणवत् सखा ते।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम यन्धिष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम्॥

-ऋ.वे. ७.८८.६

भक्तिसूत्र में शाण्डिल्य कहते हैं- **भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः**[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि श्रुति से ही भक्ति का उद्गम है।

'द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि दार्शनिक विचारधारायें वेदों से ही प्रादुर्भूत हैं। वेद आध्यात्मिक-चेतना, सामाजिक-संगठन तथा सांस्कृतिक गतिविधियों के केन्द्रबिन्दु हैं। सामाजिक मान्यता तथा आस्था जैसे सत्य, न्याय, सहानुभूति, अंहिसा, क्षमा, शान्ति, दया, परोपकार आदि मानवीय गुणों के उद्गम स्थान हैं। इनसे ही मानसिकचेतना की अभिवृद्धि, राष्ट्रिय एकता, राष्ट्रप्रेम, समाजसेवा, परमार्थभावना तथा विशद मानवधर्म का सृजन होता है।' यथा-

अस्मिन्राष्ट्रे श्रियमावेश्याम्यतो देवीप्रतिपश्याम्यापः।
दक्षिणपादामवसनेनिजऽस्मिन् राष्ट्रऽइन्द्रियं वर्द्धयामि॥[2]

वेदों का लक्ष्य शान्तिक-पौष्टिक क्रियाओं के द्वारा देवभक्ति की सहायता से प्राणी-मात्र का कल्याण करना ही है-

विद्याञ्चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥[3]

भक्ति के स्वरूप पर विचार करते हुए 'भज् सेवायाम्' धातु से क्तिन् प्रत्यय होने पर भक्ति शब्द के मौलिक अर्थ सेवा का विस्मरण सम्भव नहीं है। **'सा परानुरक्तिरीश्वरे'**[4] इस शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र के अनुसार सेवा के अतिरिक्त परानुरक्ति का समावेश भक्ति का अनुपेक्ष्य अंग ही है। कठोपनिषत् में भक्तिभाव का स्पष्ट उल्लेख मिलता है-

---

1. शाण्डिल्यभक्तिसूत्रम् 1।2।9
2. ऋग्वेदः
3. शुक्लयजुर्वेदः 40.5
4. शाण्डिल्यभक्तिसूत्रम्

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्।।[1]

इसलिए भगवान् नारायण का उद्धरण है-

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।[2]

गीता का उद्धरण-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।[3]

गीता ऐतिहासिक तथा वेदसम्बद्ध है। गीता के सम्बन्ध में विचार आवश्यक है, क्योंकि चतुर्विध पुरुषार्थ से सम्बद्ध अनन्त उपदेश रत्नों के महासागर वेद, उपनिषद्, पुराण, दर्शन आदि का एकमात्र प्रतिनिधि ग्रन्थ गीता एक महत्त्वपूर्ण अंश है। जो सम्भवतः लौकिक-परालौकिक दोनों दृष्टियों से मानवमात्र के लिए अतिशय उपादेय तथा नित्य प्रयोजनीय होने से इसका महत्त्व और बढ़ जाता है। वेद में, गीता में भगवत्प्राप्ति के प्रति साधनता का अनेक प्रकार से उपदेश दिया है।

'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः'[4] सर्वभूताहितार्थ जो कर्म स्थिरप्रज्ञ कर्मयोगी करता है, वे सभी कर्म ईश्वरोपासनारूप होते हैं। यहाँ सेवा भाव व्याप्त है। **'श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः'**[5]- प्रेमयुक्त-श्रद्धायुक्त अन्तःकरण से की जाने वाली भगवदुपासना से योगी को अधिक ही श्रेष्ठत्व प्राप्त होता है। यहाँ सख्य भाव है। **'चतुर्विधा भजन्ते माम्'**[6]- दुःखग्रस्त, जिज्ञासु विषयेच्छुः और ज्ञानी ये चार प्रकार के पुण्यकारी मनुष्य मेरा भजन सेवन करते हैं, यहाँ सेवा भाव है। **'भजन्ते मां दृढव्रताः'**[7]-जिन सत्कर्मों का आचरण करने से अज्ञानरूप पताका का नष्ट हो चुका है, वे द्वन्द्वजन्य मोह से युक्त होकर दृढनिश्चय से परमात्मा की उपासना करते हैं, यहाँ पर स्मरणात्मिका भक्ति का निदर्शन है। **'भक्त्या युक्तो**

1. कठोपनिषद् 1.2.23
2. शुक्लयजुर्वेदः 31.18
3. श्रीमद्भगवद्गीता 3.10
4. श्रीमद्भगवद्गीता 6.31
5. श्रीमद्भगवद्गीता 6-47
6. श्रीमद्भगवद्गीता 7-16
7. श्रीमद्भगवद्गीता 7-28

योगबलेन चैव'[1]- प्रयाणकाल में एकाग्रचित्त से भक्तियुक्त योगबल से अपने प्राण को भ्रूमध्य में निरन्तर स्मरण करता है वह उस परम पुरुष परमेश्वर को प्राप्त होता है। यहाँ स्मरणात्मिका भक्ति का निदर्शन है। **'भजन्त्यनन्यमनसः।[2]' 'नमस्यन्तश्च मां भक्त्या।[3]'**- सदा कर्मयोगयुक्त रहने वाले पुरुष परमात्मा का गुण-कीर्तन कर प्रेम से मेरी शरण में आकर मेरी उपासना करते हैं। यहाँ भगवद् कीर्तन का सुस्पष्ट निर्देशन है। **'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।[4]'- 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या।[5]' 'भजन्ते मामनन्यभाक्।[6]' 'न मे भक्तः प्रणश्यति।[7]' 'अनित्यसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।[8]' 'इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।[9]' 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।[10]' 'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः।[11]' 'मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।[12]' 'यो मद् भक्तः स मे प्रियः।[13]' 'भक्तिमान् मे प्रियो नरः।' 'भक्त्यास्तेऽतीव मे प्रियाः।[14]' 'भक्तिरव्यभिवचारिणी।[15]' 'भक्तियोगेन सेवते।[16]' 'स सर्वविद् भजति माम्।[17]' 'मद्भक्तिं लभते पराम्।[18]' 'भक्त्या मामभिजानाति।'[19]**

श्रीमद्भागवतादि पुराणों में भक्ति के नौ भेद बताये गये हैं-

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता 8-10
2. श्रीमद्भगवद्गीता 9-13
3. श्रीमद्भगवद्गीता 9-14
4. श्रीमद्भगवद्गीता 9-26
5. श्रीमद्भगवद्गीता 9-29
6. श्रीमद्भगवद्गीता 9-30
7. श्रीमद्भगवद्गीता 9-31
8. श्रीमद्भगवद्गीता 9-33
9. श्रीमद्भगवद्गीता 10-8
10. श्रीमद्भगवद्गीता 10-10
11. श्रीमद्भगवद्गीता 11.54
12. श्रीमद्भगवद्गीता 11-55
13. श्रीमद्भगवद्गीता 12-14
14. श्रीमद्भगवद्गीता 12-20
15. श्रीमद्भगवद्गीता 13-10
16. श्रीमद्भगवद्गीता 14-26
17. श्रीमद्भगवद्गीता 15-19
18. श्रीमद्भगवद्गीता 18-54
19. श्रीमद्भगवद्गीता 18-55

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।[1]

वेदों में विभिन्न स्थलों पर भक्ति के इन नौ भेदों का पृथक्–पृथक् वर्णन तो है ही, जिसका दिग्दर्शन किया जायेगा। इसलिए यहाँ भगवान् वेद का यह मन्त्र उद्धृत किया जाता है, जिसमें भक्ति के उपर्युक्त सभी प्रकारों का अद्‌भुत कौशल के साथ एकत्र ही समावेश किया गया है–

भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यत्रजाः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।।[2]

श्रवणम्– प्रवचन सदा श्रवण साक्षेप ही होता है। श्रोता के उपस्थित रहने पर ही प्रवक्ता प्रवचन के लिए उत्साहित होता है। कोई सुनने वाला न हो तो प्रवचन निरर्थक अरण्यरोदन ही होगा। **इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्।**[3] मैं मन्त्रद्रष्टा ऋषि इन्द्र के पराक्रमों का प्रवचन करता हूँ। **विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्।** विष्णु के पराक्रमों का प्रवचन करता हूँ। इस प्रकार इन दोनों वाक्यों में 'नु' और 'कम्' निरुक्तानुसार पादपुरक निपात हैं। अतः जहाँ–जहाँ 'वोचम्' 'वाचेम' आदि क्रियापद आये हों वहाँ वहाँ 'श्रृणु' 'श्रृणुयाः' आदि श्रवणार्थक क्रियापदों का अध्याहार करना ही होगा। उपर्युक्त दोनों वाक्यों का अर्थ यह हुआ कि मैं मन्त्रद्रष्टा ऋषि इन्द्र तथा विष्णु के पराक्रमों का प्रवचन करता हूँ। जब कोई प्रवचन करता है तो अवश्य ही श्रवण होगा। क्योंकि प्रवचन का श्रवण से नियत साहचर्य है।

कीर्तन– प्रवचन किसी के गुण–कर्मादि का अनेक प्रकार से कथन ही अभिप्रेत होता है, अतः कीर्तन को प्रवचन का पर्याय माना जाए तो अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं पडता। इस दृष्टि से उपर्युक्त श्रवण सम्बन्धी सभी वेदवाक्यों में कीर्तन का सहज ही प्रतिपादन हो गया है, इसलिए वे सभी स्थलकीर्तन के भी स्पष्ट उदाहरण हैं। कीर्तन शब्द का दूसरा अर्थ है गुणगान। इस अर्थ में कीर्तन के निर्देशक कुछ स्थल वेद में निम्नलिखित हैं–

'गायन्ति त्वा गायत्रिणः।'[4] **सुष्टुतिमीरयामि।**[5] **बृहदिन्द्राय गायत।**[6] **इन्द्रमभि**

---

1. श्रीमद्‌भागवतम् 7–5–23
2. ऋग्वेद 1–89–8
3. ऋग्वेद 1–32–1
4. ऋग्वेद 1–10–1
5. ऋग्वेद 2–33–8
6. ऋग्वेद 8–89–1

प्रगाय।[1] प्रगायत्रेण गायत।[2] प्रगायताभ्यर्चाम।[3]

इन सबका अर्थ स्पष्ट ही है। अर्थ का विचार करते समय एक बात का अवश्य ध्यान रहना चाहिए, कि अग्नि, इन्द्रादि देवताओं के नाम सर्वत्र ईश्वर का ही ग्रहण अभिप्रेत है। इस प्रसंग में अथर्ववेद का निम्न मन्त्र विशेष महत्त्व का है जो अहर्निश भगवत्कीर्तन का सुस्पष्ट निर्देश देता है-

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि।
आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम्।।[4]

इस मन्त्र में गाय और स्तुति क्रिया पदों में भगवद् यशोगान और भगवद्गुणानुकथन उभयविध कीर्तन का निर्देश किया गया है। भक्तिप्रकाश में कीर्तन का लक्षण इस प्रकार है- **'भगवतो यशोगानं रटनं वा मुहुर्मुहुः।'** अर्थात् भगवान् का यशोगान बार-बार गुणानुकथन करना ही कीर्तन है।

स्मरणम्- भगवान् के साथ येन केन प्रकारेण सम्बन्ध स्थापित करना स्मरण भक्ति है। वेद माता गायत्री मन्त्र का द्वितीय पाद ही स्मरणात्मिका भक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण है- **'भर्गो देवस्य धीमहि।'[5]**

परमात्मा के तेजोमय स्वरूप का ध्यान, चिन्तन करना ही स्मरणात्मक भक्ति है।

पादसेवन- ईश्वर के विग्रह की चरण-सेवा पूजा करना तथा अर्चन और स्तोत्रों के द्वारा स्तुति करना पादसेवन भक्ति है। पाद-सेवन भक्ति का उदाहरण है- **पदं देवस्य माळ्हुषोऽनाधृष्टाभिरूतिभिः। भद्रा सूर्य इवोपदृक्।।[6]**

निम्न मन्त्र में भगवच्चरणारविन्द का माहात्म्य द्योतित किया गया है, जो मानव को उसके अर्चन या सेवन की और प्रेरित करता है। जिसका अर्थ है- अभीष्ट पदार्थों के वर्षक परमात्मा का चरण आराधनीय है सेवनीय है। क्योंकि वह भगवच्चरण शत्रुओं से अनभिभूत रक्षाओं से युक्त है। उसकी रक्षा, छत्रच्छाया में कोई भक्त का बाल भी बँका नहीं कर सकता। उस परमात्मा का समीप से दर्शन या साक्षात्कार सूर्य

---

1. ऋग्वेद 8-92-1
2. ऋग्वेद 9-60-1
3. ऋग्वेद 9-97-4
4. अथर्ववेद 6-1-1
5. ऋग्वेद 3-62-10
6. ऋग्वेद 8-102-15

के समान कल्याण का हेतु है। इसी बात को गीता में इस भाव से परम पुरुष परमात्मा को उपद्रष्टा कहा गया है- **'उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।[1]'**

अर्चनम्- अपने इष्ट का अनन्य भावों से पूजन करना स्तोत्र मन्त्रादि के माध्यम से वस्तुओं को हविष्यादि के द्वारा अर्पित करना ही अर्चन भक्ति है। वेद में अर्चन के प्रातिपादक उदाहरण निम्न प्रकार से हैं-

'अर्कमर्चन्तु कारवः।'[2] 'अर्चत प्रार्चत।'[3] 'अर्चन्त्यर्कमर्किणः।[4]'

स्तोतृगण अर्चनीय परमात्मा की अर्चना करें। साधकगण आप लोग परमात्मा की अर्चा करें। अर्चनात्मक मन्त्रों के पाठक, पूजारी, पूजनीय परमात्मा की अर्चा करते हैं। तात्पर्य यह है, कि प्रभु के भक्त अर्चना में विनियुक्त वेदमन्त्रों से विधिवत् अपने इष्ट का पूजन करते रहें। इसी प्रकार यह अति-प्रसिद्ध मन्त्र भी अर्चन-भक्ति का उदाहरण है-

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः॥[5]

वन्दन- वन्दन शब्द 'वदि अभिवादस्तुत्योः' धातु से निष्पण होता है, वदि धातु का अर्थ है अभिवादन अर्थात् नमस्कार और स्तुति। स्तुति अर्थ मानने पर वन्दन का कीर्तन में ही अन्तर्भाव हो जायेगा। अतः नवधा भक्ति के प्रकरण में वन्दन का अविवादन या नमस्कार अर्थ ही ग्रहण किया गया है। वन्दनभक्ति के उदाहरण स्वरूप निम्न मन्त्र इस प्रकार हैं-

'नमस्ते रुद्र मन्यवे' 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्याम्'[6]।

इस प्रकार वेद के सभी नमस्कार बोधक मन्त्र वन्दन भक्ति के उदाहरण हैं।

दास्य- अपने सभी कर्मों को ईश्वर के प्रति अर्पण करना दास्य भक्ति है। दास्य भक्ति का उदाहरण निम्न प्रकार से है-

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता 13-22
2. ऋग्वेद 8-92-19
3. सामवेद 4-2-3-3
4. ऋग्वेद 1-10-1
5. शुक्लयजुर्वेद 3-60
6. शुक्लयजुर्वेद 16-66

'यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य। सर्वं तदिन्द्र ते वशे।[1]'

स्वरूपाच्छादक अज्ञान के विनाशक हे सूर्यात्मक परमेश्वर सृष्टिकाल में आप जिस किसी पदार्थ के अभिमुख या समक्ष उदित होते हैं वह समस्त पदार्थ भवदुद्भासित विश्व आपके वशीभूत है। भाव यह है, कि आप विश्व के स्वामी हैं, मैं उस विश्व के अन्तर्गत हूँ। अतः आपका सहज दास हूँ। दीनबन्धो मुझ पर दया करके मेरे अज्ञान का नाश करो ताकि मैं संसार बन्धन से मुक्त हो सकूँ। भगवत्कृपा से स्वात्मदर्शन होने पर जब अज्ञान नष्ट होता है तभी भक्त संसार बन्धन से मुक्त हो पाता है।

सख्य- भगवान में अटल विश्वास होना और उनके साथ मैत्री भाव होना सख्य है। सख्य भक्ति का उदाहरण निम्न मन्त्रों में इस प्रकार है- **'अस्य प्रियासः सख्ये स्याम।'[2]**

प्रेमास्पद हम इस परमात्मा के मैत्री भाव में स्थित हों अर्थात् हम ईश्वर के प्रिय विश्वसनीय सच्चे मित्र बनें।

'देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम्।'[3]

हम साधकगण सर्वदेवमय प्रभु के सख्यभाव को मित्रता को प्राप्त हैं। अर्थात् सर्वदेवात्मक भगवान् के हम सच्चे मित्र बन चुके हैं। अतः अब हमें भव-बन्धन का कोई भय नहीं है।

आत्मनिवेदन- प्रभु की सेवा में अपनी आत्मा को समर्पित कर देना आत्मनिवेदन है। आत्मा के देह और देही ये दो अर्थ बतलाये गये हैं। इस प्रकार आत्मनिवेदन के अन्तर्गत देह और देही इन दोनों का समर्पण समझा जाता है। आत्मनिवेदन का उदाहरण निम्न है। -**'स नो जीवातवे कृधि।'[4]**

वह आप हमारे सर्वस्व प्रभो! हमें जीवन के हेतु एकमात्र परम लक्ष्य अपनी सेवा के लिए स्वीकार करें। यहाँ साधक प्रभु की सेवा के लिए ही जीवित रहता है। भगवत्सेवा में जीवन के उपयोग की सम्भावना मिटते ही वह प्राणोत्सर्ग कर देता है। आत्मनिवेदन का ही नामान्तर शरणागति है, जिसका उल्लेख श्वेताश्वतरोपनिषद् में इस प्रकार है-

---

1. ऋग्वेद 8-93-4
2. ऋग्वेद 4-17-9
3. ऋग्वेद 1-89-2
4. ऋग्वेद 10-186-2।

'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।'[1]

नवधा भक्ति का आचरण साधक अवस्था में होता है। उस समय प्रभु में विविध साधक का प्रेम वैध होता है। माता, पिता, गुरुजन, शास्त्रादि का आदेश विधि है। उससे प्रेरित होकर, न चाहते हुए भी साधक विवश होकर भगवान् की अर्चना-वन्दना करता है। इसलिए शास्त्रों में नवधा भक्ति को वैधी भक्ति माना गया है, इसके निरन्तर अभ्यास से परिपक्व दशा में प्रभु के प्रति नैसर्गिक प्रेम उत्पन्न हो जाता है।

जैसे नदियों का समुद्र की ओर, पतङ्ग का दीपक की ओर, चकोर का चन्द्र के प्रति तथा चातक का मेघ के प्रति सहज आकर्षण होता है, ठीक वैसे ही प्रभु के चरणों में साधक का स्वाभाविक प्रेम उदय भगवद्नुरक्ति है।

वेद में भी विभिन्न स्थलों पर भक्ति के इन नवों भेदों का पृथक्-पृथक् वर्णन तो है ही, जिसका दिग्दर्शन हमनें किया, यहाँ भगवान् वेद का वह मन्त्र जिसमें भक्ति के उपर्युक्त सभी प्रकारों का अद्भुत कौशल के साथ एकत्र ही समावेश किया गया है।

'भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥[2]

हे देवगण! हम भजनीय, सेवनीय, अराधनीय, विद्वानों की **'कल्याणानां निधानम्'** इस उक्ति से तथा **'मङ्गलं मङ्गलानाम्'** इस उक्ति से परममङ्गलमय परमात्मा को कानों से सुनें अर्थात् उनके दिव्यगुणों को, कर्मों को और चरित्र को सुनें। हमारी कर्णेन्द्रियाँ भगवद् कथा श्रवण में संलग्न रहें। भगवान् के अर्चक हम कर-पादादि अङ्गों से तथा अवयवी शरीरों से संयुक्त होकर, भगवत् कीर्तन करते हुए देव के हितार्थ अर्थात् भगवत्प्रीत्यर्थ प्रवहमाण जीवन को प्राप्त हो अर्थात् हमारे जीवन का लक्ष्य लौकिक स्वार्थ सिद्धि नहीं, अपितु भगवान् की सेवा द्वारा उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना हो।

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषत् 6-18
2. ऋग्वेद 1-89-8